

कर्मतत्त्व

कर्मग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद के साथ तथा हिन्दी अनुवाद प्रकाशक आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक भण्डाल के साथ मेरा इतना धनिष्ठ संबन्ध रहा है कि इस अनुवाद के साथ भी पूर्वकथन रूप से कुछ न कुछ लिख देना मेरे लिए अनिवार्य-सा हो जाता है ।

जैन वाङ्मय में इस समय जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र मौजूद हैं उनमें से प्राचीन माने जानेवाले कर्मविषयक ग्रन्थों का साक्षात् संबन्ध दोनों परम्पराएँ, आग्रायणीय पूर्व के साथ बतलाती हैं । दोनों परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्व को दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गान्तर्गत चौदह पूर्वों में से दूसरा पूर्व कहती हैं और दोनों श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराएँ समान रूप से मानती हैं कि सारे अङ्ग तथा चौदह पूर्व यह सब भगवान् महावीर की सर्वश वाणी का साक्षात् फल है । इस साम्प्रदायिक चिरकालीन मान्यता के अनुसार मौजूदा सारा कर्मविषयक जैन वाङ्मय शब्दरूप से नहीं तो अन्ततः भावरूप से भगवान् महावीर के साक्षात् उपदेश का ही परम्परा प्राप्त सारमात्र है । इसी तरह यह भी साम्प्रदायिक मान्यता है कि वस्तुतः सारी अङ्गविद्याएँ भावरूप से केवल भगवान् महावीर की ही पूर्वकालीन नहीं, बल्कि पूर्व-पूर्व में हुए अन्यान्य तीर्थङ्करों से भी पूर्वकाल की अतएव एक तरह से अनादि हैं । प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी समय-समय पर होनेवाले नव-नव तीर्थङ्करों के द्वारा वे पूर्व-पूर्व अङ्गविद्याएँ नवीन नवीनत्व धारण करती हैं । इसी मान्यता को प्रकट करते हुए कलिकाल सर्वश आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में, नैयायिक जयन्त भट्ट का अनुकरण करके बड़ी खूबी से कहा है कि—‘अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीन-भवन्ति, तत्तत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते । किन्नाश्रौषीः न कदाचिदनीदृशं जगत ।’

उक्त साम्प्रदायिक मान्यता ऐसी है कि जिसको साम्प्रदायिक लोग आज तक अक्षरशः मानते आए हैं और उसका समर्थन भी वैसे ही करते आए हैं जैसे मीमांसक लोग वेदों के अनादित्व की मान्यता का । साम्प्रदायिक लोग दो प्रकार के होते हैं—बुद्धि-अप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तु को बुद्धि का प्रयोग बिना किए ही श्रद्धामात्र से मान लेते हैं और बुद्धिप्रयोगी श्रद्धालु जो परम्पराप्राप्त वस्तु को केवल श्रद्धा से मान ही नहीं लेते पर उसका बुद्धि के द्वारा यथा सम्भव

समर्थन भी करते हैं। इस तरह साम्प्रदायिक लोगों में पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यता का आदरणीय स्थान होने पर भी इस जगह कर्मशास्त्र और उसके मुख्य विषय कर्मतत्त्व के संबन्ध में एक दूसरी दृष्टि से भी विचार करना प्राप्त है। वह दृष्टि है ऐतिहासिक।

एक तो जैन परम्परा में भी साम्प्रदायिक मानस के अलावा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने का युग कभी से आरम्भ हो गया है और दूसरे यह कि मुद्रण युग में प्रकाशित किये जानेवाले मूल तथा अनुवाद ग्रन्थ जैनो तक ही सीमित नहीं रहते। जैनतर भी उन्हें पढ़ते हैं। सम्पादक, लेखक, अनुवादक और प्रकाशक का ध्येय भी ऐसा रहता है कि वे प्रकाशित ग्रन्थ किस तरह अधिकाधिक प्रमाण में जैनतर पाठकों के हाथ में पहुँचें। कहने की शायद ही जरूरत हो कि जैनतर पाठक साम्प्रदायिक हो नहीं सकते। अतएव कर्मतत्त्व और कर्मशास्त्र के बारे में हम साम्प्रदायिक दृष्टि से कितना ही क्यों न सोचें और लिखें फिर भी जब तक उसके बारे में हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार न करेंगे तब तक हमारा मूल एवं अनुवाद प्रकाशन का उद्देश्य ठीक-ठीक सिद्ध हो नहीं सकता। साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थान में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पक्ष में और भी प्रबल दलीलें हैं। पहली तो यह कि अब धीरे-धीरे कर्मविषयक जैन वाङ्मय का प्रवेश कालिजों के पाठ्यक्रम में भी हुआ है जहाँ का वातावरण असाम्प्रदायिक होता है। दूसरी दलील यह है कि अब साम्प्रदायिक वाङ्मय सम्प्रदाय की सीमा लौंघकर दूर-दूर तक पहुँचने लगा है। यहाँ तक कि जर्मन विद्वान् ग्लेभूनप् जो 'जैनस्मस्'—जैनदर्शन जैसी सर्वसंग्राहक पुस्तक का प्रसिद्ध लेखक है, उसने तो श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थों का जर्मन भाषा में उल्था भी कभी का कर दिया है और वह उसी विषय में पी-एच्० डी० भी हुआ है। अतएव मैं इस जगह थोड़ी बहुत कर्मतत्त्व और कर्मशास्त्र संबन्धी चर्चा ऐतिहासिक दृष्टि से करना चाहता हूँ।

मैंने अभी तक जो कुछ वैदिक और अवैदिक श्रुत तथा मार्ग का अवलोकन किया है और उस पर जो थोड़ा बहुत विचार किया है उसके आधार पर मेरी राय में कर्मतत्त्व से संबन्ध रखनेवाली नीचे लिखी वस्तुस्थिति खास तौर से फलित होती है जिसके अनुसार कर्मतत्त्वविचारक सब परम्पराओं की शृंखला ऐतिहासिक क्रम से सुसङ्गत हो सकती है।

पहिला प्रश्न कर्मतत्त्व मानना या नहीं और मानना तो किस आधार पर, यह था। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अर्थ के सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ मानता न था। उसकी दृष्टि में इहलोक ही पुरुषार्थ था। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व मानने के लिए बाधित न था जो अच्छे-बुरे जन्मान्तर था

परलोक की प्राप्ति करानेवाला हो। यही पक्ष चार्वाक परंपरा के नाम से विख्यात हुआ। पर साथ ही उस अति पुराने युग में भी ऐसे चिंतक थे जो बतलाते थे कि मृत्यु के बाद जन्मान्तर भी है^१। इतना ही नहीं बल्कि इस दृश्यमान लोक के अलावा और भी श्रेष्ठ कनिष्ठ लोक हैं। वे पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और वे ही पुनर्जन्म और परलोक के कारणरूप से कर्मतत्त्व को स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि यह रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक का संबन्ध घट ही नहीं सकता। अतएव पुनर्जन्म की मान्यता के आधार पर कर्मतत्त्व का स्वीकार आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपने को परलोकवादी तथा आस्तिक कहते थे।

कर्मवादियों के मुख्य दो दल रहे। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्म का फल जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, पर श्रेष्ठ जन्म तथा श्रेष्ठ परलोक के वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ ही चाहिए। यह दल परलोकवादी होने से तथा श्रेष्ठलोक, जो स्वर्ग कहलाता है, उसके साधनरूप से धर्म का प्रतिपादन करनेवाला होने से, धर्म-अर्थ-काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थों को मानता था, उसकी दृष्टि में मोक्ष का अलग पुरुषार्थ रूप से स्थान न था। जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्म का उल्लेख आता

१ मेरा ऐसा अभिप्राय है कि इस देश में किसी भी बाहरी स्थान से प्रवर्तक धर्म या याज्ञिक मार्ग आया और वह ज्यों-ज्यों फैलता गया त्यों-त्यों इस देश में उस प्रवर्तक धर्म के आने के पहले से ही विद्यमान निवर्तक धर्म अधिकाधिक बल पकड़ता गया। याज्ञिक प्रवर्तक धर्म की दूसरी शाखा ईरान में जरथोस्त्रियधर्म-रूप से विकसित हुई। और भारत में आनेवाली याज्ञिक प्रवर्तक धर्म की शाखा का निवर्तक धर्मवादियों के साथ प्रतिद्वन्द्वीभाव शुरू हुआ। यहाँ के पुराने निवर्तक धर्मवादी आत्मा, कर्म, मोक्ष, ध्यान, योग, तपस्या आदि विविध मार्ग यह सब मानते थे। वे न तो जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य मानते थे और न चातुराश्रम्य की नियत व्यवस्था। उनके मतानुसार किसी भी धर्मकार्य में पति के लिए पत्नी का सहचार अनिवार्य न था प्रत्युत त्याग में एक दूसरे का संबन्ध विच्छेद हो जाता था। जब कि प्रवर्तक धर्म में इससे सब कुछ उल्टा था। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में गार्हस्थ्य और त्यागाश्रम की प्रधानतावाले जो संवाद पाये जाते हैं वे उक्त दोनों धर्मों के विरोधसूचक हैं। प्रत्येक निवृत्ति धर्मवाले के दर्शन के सूत्र-ग्रन्थों में मोक्ष को ही पुरुषार्थ लिखा है जब कि याज्ञिक मार्ग के सब विधान स्वर्गलक्षी बतलाए हैं। आगे जाकर अनेक अंशों में उन दोनों धर्मों का समन्वय भी हो गया है।

है, वह सब इसी त्रिपुरुषार्थवादी दल के मन्तव्य का सूचक है। इसका मन्तव्य संक्षेप में यह है कि धर्म-शुभकर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभकर्म का फल नरक आदि है। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हीं के द्वारा जन्म-जन्मान्तर की चक्रप्रवृत्ति चला करती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। शक्य इतना ही है कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना हो तो धर्म ही कर्तव्य है। इस मत के अनुसार अधर्म या पाप तो हेय हैं, पर धर्म या पुण्य हेय नहीं। यह दल सामाजिक व्यवस्था का समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य शिष्ट एवं विहित आचरणों से धर्म की उत्पत्ति बतलाकर तथा निन्द्य आचरणों से अधर्म की उत्पत्ति बतलाकर सब तरह की सामाजिक सुव्यवस्था का ही संकेत करता था। वही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कर्मवादियों का दूसरा दल उपर्युक्त दल से बिल्कुल विरुद्ध दृष्टि रखने वाला था। यह मानता था कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्टसम्मत एवं विहित कर्मों के आचरण से धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है। पर वह धर्म भी अधर्म की तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है जो मोक्ष कहलाता है। इसका कथन है कि एकमात्र मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है और मोक्ष के वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप, हेय है। यह नहीं कि कर्म का उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्न से वह भी शक्य है। जहाँ कहीं निवर्तक धर्म का उल्लेख आता है वहाँ सर्वत्र इसी मत का सूचक है। इसके मतानुसार जब आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य और इष्ट है तब इसे प्रथम दल की दृष्टि के विरुद्ध ही कर्म की उत्पत्ति का असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्म का मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नहीं; किन्तु अज्ञान और राग-द्वेष है। कैसा ही शिष्टसम्मत और विहित सामाजिक आचरण क्यों न हो पर अगर वह अज्ञान एवं रागद्वेष मूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। इसके मतानुसार पुण्य और पाप का भेद स्थूल दृष्टि वालों के लिए है। तत्त्वतः पुण्य और पाप सब अज्ञान एवं राग-द्वेष-मूलक होने से अधर्म एवं हेय ही है। यह निवर्तक धर्मवादी दल सामाजिक न होकर व्यक्तिविकासवादी रहा। जब इसने कर्म का उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया तब इस कर्म के उच्छेदक एवं मोक्ष के जनक कारणों पर भी विचार करना पड़ा। इसी विचार के फलस्वरूप इसने जो कर्मनिवर्तक कारण स्थिर किये वही इस दल का निवर्तक धर्म है। प्रवर्तक और निवर्तक धर्म की दिशा बिल्कुल परस्पर विरुद्ध है। एक का ध्येय सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और सुव्यवस्था का निर्माण है जब दूसरे का ध्येय निजी आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है, अतएव मात्र

आत्मगामी है। निवर्तक धर्म ही भ्रमण, परित्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामों से प्रसिद्ध है। कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं राग-द्वेष जनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय अज्ञानविरोधी सम्यग् ज्ञान और राग-द्वेषविरोधी रागद्वेषनाशरूप संयम ही स्थिर हुआ। बाकी के तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयम के ही साधनरूप से माने गए।

निवर्तक धर्मवादियों में अनेक पक्ष प्रचलित थे। यह पक्षभेद कुछ तो वादों की स्वभाव-मूलक उग्रता-मृदुता का आभारी था और कुछ अंशों में तत्त्वज्ञान की जुदी-जुदी प्रक्रिया पर भी अवलंबित था। ऐसे मूल में तीन पक्ष रहे जान पड़ते हैं। एक परमाणुवादी, दूसरा प्रधानवादी और तीसरा परमाणुवादी होकर भी प्रधान की छाया वाला था। इसमें से पहला परमाणुवादी मोक्ष समर्थक होने पर भी प्रवर्तकधर्म का उतना विरोधी न था जितने कि पिछले दो। यही पक्ष आगे जाकर न्याय-वैशेषिक दर्शनरूप से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा पक्ष प्रधानवादी था और वह आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति का समर्थक होने से प्रवर्तकधर्म अर्थात् श्रौत-स्मार्तकर्म को भी हेय बतलाता था। यही पक्ष सांख्य-योग नाम से प्रसिद्ध है और इसी के तत्त्वज्ञान की भूमिका के ऊपर तथा इसी के निवृत्तिवाद की छाया में आगे जाकर वेदान्तदर्शन और संन्यासमार्ग की प्रतिष्ठा हुई। तीसरा पक्ष प्रधान-च्छायापन्न अर्थात् परिणामी परमाणुवादी का रहा जो दूसरे पक्ष की तरह ही प्रवर्तकधर्मका आत्यन्तिक विरोधी था। यही पक्ष जैन एवं निर्ग्रन्थ दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धदर्शन प्रवर्तक धर्म का आत्यन्तिक विरोधी है पर वह दूसरे और तीसरे पक्ष के मिश्रण का एक उत्तरवर्ती स्वतन्त्र विकास है। पर सभी निवर्तकवादियों का सामान्य लक्षण यह है कि किसी न किसी प्रकार कर्मों को जड़ नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहाँ से फिर जन्मचक्र में आना न पड़े।

ऐसा मालूम नहीं होता है कि कभी मात्र प्रवर्तकधर्म प्रचलित रहा हो और निवर्तक धर्मवाद का पीछे से प्रादुर्भाव हुआ है। फिर भी प्रारम्भिक समय ऐसा जरूर बीता है जब कि समाज में प्रवर्तक धर्म की प्रतिष्ठा मुख्य थी और निवर्तक धर्म व्यक्तियों तक ही सीमित होने के कारण प्रवर्तक धर्मवादियों की तरफ से न केवल उपेक्षित ही था बल्कि उससे विरोध की चोटें भी सहता रहा। पर निवर्तक धर्मवादियों की जुदी-जुदी परम्पराओं ने ज्ञान, ध्यान, तप, योग, भक्ति आदि आभ्यन्तर तत्त्वों का क्रमशः इतना अधिक विकास किया कि फिर तो प्रवर्तकधर्म के होते हुए भी सारे समाज पर एक तरह से निवर्तकधर्म की ही प्रतिष्ठा की मुहर लग गई। और जहाँ देखो वहाँ निवृत्ति की चर्चा होने लगी और साहित्य भी निवृत्ति के विचारों से ही निर्मित एवं प्रचारित होने लगा।

निवर्तक धर्मवादियों को मोक्ष के स्वरूप तथा उसके साधनों के विषय में तो ऊहापोह करना ही पड़ता था पर इसके साथ उनको कर्मतत्त्वों के विषय में भी बहुत विचार करना पड़ा। उन्होंने कर्म तथा उसके भेदों की परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ स्थिर कीं। कार्य और कारण की दृष्टि से कर्मतत्त्व का विविध वर्गीकरण किया। कर्म की फलदान शक्तियों का विवेचन किया। जुदे-जुदे विपाकों की काल मर्यादाएँ सोचीं। कर्मों के पारस्परिक संबंध पर भी विचार किया। इस तरह निवर्तक धर्मवादियों का खासा कर्मतत्त्वविषयक शास्त्र व्यवस्थित हो गया और इसमें दिन प्रतिदिन नए-नए प्रश्नों और उनके उत्तरों के द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा। ये निवर्तक धर्मवादी जुदे-जुदे पक्ष अपने सुभीते के अनुसार जुदा-जुदा विचार करते रहे पर जबतक इन सब का संमिलित ध्येय प्रवर्तक धर्मवाद का खण्डन रहा तब तक उनमें विचार विनिमय भी होता रहा और उनमें एकवाक्यता भी रही। यही सबब है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, जैन और बौद्ध दर्शन के कर्मविषयक साहित्य में परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदि का शब्दशः और अर्थशः साम्य बहुत कुछ देखने में आता है, जब कि उक्त दर्शनों का मौजूदा साहित्य उस समय की अधिकांश पैदाइश है जिस समय कि उक्त दर्शनों का परस्पर सद्भाव बहुत कुछ घट गया था। मोक्षवादियों के सामने एक जटिल समस्या पहले से यह थी कि एक तो पुराने ब्रह्मकर्म ही अनन्त हैं, दूसरे उनका क्रमशः फल भोगने के समय प्रत्येकक्षण में नए-नए भी कर्म बंधते हैं, फिर इन सब कर्मों का सर्वथा उच्छेद कैसे संभव है, इस समस्या का हल भी मोक्षवादियों ने बड़ी खूबी से किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनों के साहित्य में उस हल का वर्णन संक्षेप या विस्तार से एक-सा पाते हैं। यह वस्तु-स्थिति इतना सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि कभी निवर्तकवादियों के भिन्न-भिन्न पक्षों में खूब विचार विनिमय होता था। यह सब कुछ होते हुए भी धीरे-धीरे ऐसा समय आ गया जब कि ये निवर्तकवादी पक्ष आपस में प्रथम जितने नजदीक न रहे। फिर भी हरएक पक्ष कर्मतत्त्व के विषय में ऊहापोह तो करता ही रहा। इस बीच में ऐसा भी हुआ कि किसी निवर्तकवादी पक्ष में एक खासा कर्मचिन्तक वर्ग ही स्थिर हो गया जो मोक्षसंबंधी प्रश्नों की अपेक्षा कर्म के विषय में ही गहरा विचार करता था और प्रधानतया उसी का अध्ययन-अध्यापन करता था जैसा कि अन्य-अन्य विषय के खास चिन्तक वर्ग अपने-अपने विषय में किया करते थे और आज भी करते हैं। वही मुख्यतया कर्मशास्त्र का चिन्तक-वर्ग जैन दर्शन का कर्मशास्त्रानुयोगधर वर्ग या कर्मसिद्धान्तज्ञ वर्ग है।

कर्म के बंधक कारणों तथा उसके उच्छेदक उपायों के बारे में तो सब

भोक्षवादी गौणमुख्यभाव से एकमत ही हैं पर कर्मतत्त्व के स्वरूप के बारे में ऊपर निर्दिष्ट खास कर्मचिन्तक वर्ग का जो मन्तव्य है उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी भोक्षमार्गी वैशेषिक आदि कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतन-धर्म बतलाते थे जब कि प्रधानवादी सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़धर्म बतलाते थे। परन्तु आत्मा और परमाणु को परिणामी माननेवाले जैन चिन्तक अग्नी जुदी प्रक्रिया के अनुसार कर्म को चेतन और जड़ उभय के परिणाम रूप से उभय रूप मानते थे। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी सांख्य के प्राकृत अन्तःकरण की तरह संकोच विकासशील था, जिसमें कर्मरूप विकार भी संभव है और जो जड़ परमाणुओं के साथ एकरस भी हो सकता है। वैशेषिक आदि के मतानुसार कर्म चेतनधर्म होने से वस्तुतः चेतन से जुदा नहीं और सांख्य के अनुसार कर्म प्रकृति धर्म होने से वस्तुतः जड़ से जुदा नहीं। जब कि जैन चिन्तकों के मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड़ उभय रूप ही फलित होता है जिसे वे भाव और द्रव्यकर्म भी कहते हैं। यह सारी कर्मतत्त्व संबंधी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है जब कि कर्मतत्त्व के चिन्तकों में परस्पर विचारविनिमय अधिकाधिक होता था। वह समय कितना पुराना है यह निश्चय रूप से तो कहा ही नहीं जा सकता पर जैनदर्शन में कर्मशास्त्र का जो चिरकाल से स्थान है, उस शास्त्र में जो विचारों की गहराई, शृंखलाबद्धता तथा सूक्ष्माति-सूक्ष्म भावों का असाधारण निरूपण है इसे ध्यान में रखने से यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैनदर्शन की विशिष्ट कर्मविद्या भगवान् पार्श्वनाथ के पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्या के धारक कर्मशास्त्रज्ञ कहलाए और यही विद्या आप्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवाद पूर्व के नाम से विश्रुत हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वशब्द का मतलब भगवान् महावीर के पहले से चला आनेवाला शास्त्र-विशेष है। निःसंदेह ये पूर्व वस्तुतः भगवान् पार्श्वनाथ के पहले से ही एक या दूसरे रूप में प्रचलित रहे। एक ओर जैन चिन्तकों ने कर्मतत्त्व के चिन्तन की ओर बहुत ध्यान दिया जब कि दूसरी ओर सांख्य-योग ने ध्यानमार्ग की ओर सविशेष ध्यान दिया। आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए तब उन्होंने भी ध्यान पर ही अधिक भार दिया। पर सबों ने बिरासत में मिले कर्मचिन्तन को अपना रखा। यही सबब है कि सूक्ष्मता और विस्तार में जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है। फिर भी सांख्य-योग, बौद्ध आदि दर्शनों के कर्मचिन्तनों के साथ उसका बहुत कुछ साम्य है और मूल में एकता भी है जो कर्मशास्त्र के अभ्यासियों के लिए शतव्य है।

ई० १६४१]

[पंचम कर्मग्रन्थ का 'पूर्वकथन'

—:३:—